International Journal of Education, Modern Management, Applied Science & Social Science (IJEMMASSS)
ISSN : 2581-9925, Impact Factor: 6.340, Volume 03, No. 03(I), July - September, 2021, pp.218-224

भक्ति का महत्व

Shweta Nagar [*]
Dr. Nourat Singh Meena [**]

सार

भक्ति अपने इष्ट के प्रति ऐसा समर्पण भाव है, जो हमारे मन में यह विश्वास जगाता है कि उसकी शरण में हम सदा शांति, सुचित्त, सुरक्षित व सदाचारी रहेंगे। साथ ही, संतुष्टि, तृप्ति, तटस्थता, आध्यात्मिक चेतना और अनंत सद्विचार के सुवासित पुष्प पर हम बरसेंगे और उसकी कृपा की निर्मल फुहार के तले हम एक–चित्त होकर यह बहुमूल्य जीवन जिएंगे। एक दृष्टि से भक्ति का यह भाव और विश्वास वैयक्तिक है, अपना–अपना अलग–अलग। सामान्यतः भक्ति के उपक्रम हैं पूजा, जप, ध्यान, कीर्तन, निरंतर स्मरण व चिंतन, जो अपने मन में पवित्रता का भाव जगाते हैं और दुष्कर्मों से बचाते हैं।

शब्दकोशः *भक्ति, आध्यात्मिक चेतना, बहुमूल्य जीवन, सुचित्त, कीर्तन।*

प्रस्तावना

भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति 'भज' धातु से हुई है, जिसका अर्थ 'सेवा करना' या 'भजना' है, अर्थात् श्रद्धा और प्रेमपूर्वक इष्ट देवता के प्रति आसक्ति। नारदभक्तिसूत्र में भक्ति को परम प्रेमरूप और अमृतस्वरूप कहा गया है। इसको प्राप्त कर मनुष्य कृतकृत्य, संतृप्त और अमर हो जाता है। व्यास ने पूजा में अनुराग को भक्ति कहा है। गर्ग के अनुसार कथा श्रवण में अनुरक्ति ही भक्ति है। भारतीय धार्मिक साहित्य में भक्ति का उदय वैदिक काल से ही दिखाई पड़ता है।[1] अर्थात् भक्ति, भजन है। किसका भजन? ब्रह्म का, महान् का। महान् वह है जो चेतना के स्तरों में मूर्धन्य है, यज्ञियों में यज्ञिय है, पूजनीयों में पूजनीय है, सात्वतों, सत्वसंपन्नों में शिरोमणि है और एक होता हुआ भी अनेक का शासक, कर्मफलप्रदाता तथा भक्तों की आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाला है।

मानव चिरकाल से इस एक अनादि सत्ता (ब्रह्म) में विश्वास करता आया है। भक्ति साधन तथा साध्य द्विविध है। साधक, साधन में ही जब रस लेने लगता है, उसके फलों की ओर से उदासीन हो जाता है। यही साधन का साध्य बन जाता है। पर प्रत्येक साधन का अपना पृथक् फल भी है। भक्ति भी साधक को पूर्ण स्वाधीनता, पवित्रता, एकत्वभावना तथा प्रभुप्राप्ति जैसे मधुर फल देती है। प्रभुप्राप्ति का अर्थ जीव की समाप्ति नहीं है, सयुजा और सखाभाव से प्रभु में अवस्थित होकर आनन्द का उपभोग करना है।[1]

आचार्य रामानुज, मध्व, निम्बार्क आदि का मत यही है। महर्षि दयानन्द लिखते हैं : जिस प्रकार अग्नि के पास जाकर शीत की निवृत्ति तथा उष्णता का अनुभव होता है, उसी प्रकार प्रभु के पास पहुँचकर दुःख की निवृत्ति तथा आनन्द की उपलब्धि होती है। 'परमेश्वर के समीप होने से सब दोष दुःख छूटकर परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण, कर्म और स्वभाव पवित्र हो जाते हैं। परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना से आत्मा का बल इतना बढ़ेगा कि पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी वह नहीं घबराएगा और सबको सहन कर सकेगा।[2]

[G] PhD Scholar, Department of Hindi, Dr K N Modi University, Niwai, Rajasthan, India.
[**] Assistant Professor, Department of Hindi, Dr K N Modi University, Niwai, Rajasthan, India.

ईसाई प्रभु में पितृभावना रखते हैं क्योंकि पाश्चात्य विचारकों के अनुसार जीव को सर्वप्रथम प्रभु के नियामक, शासक एवं दण्डदाता रूप का ही अनुभव होता है। ब्रह्माण्ड का वह नियामक है, जीवों का शासक तथा उनके शुभाशुभ कर्मो का फलदाता होने के कारण न्यायकारी दंडदाता भी है। यह स्वामित्व की भावना है जो पितृभावना से थोड़ा हटकर है। इस रूप में जीव परमात्मा की शक्ति से भयभीत एवं त्रस्त रहता है पर उसके महत्व एवं ऐश्वर्य से आकर्षित भी होता है। अपनी क्षुद्रता, विवशता एवं अल्पज्ञता की दुःखद स्थिति उसे सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ एवं महान् प्रभु की ओर खींच ले जाती है। भक्ति में दास्यभाव का प्रारंभ स्वामी के सामीप्यलाभ का अमोघ साधन समझा जाता है। प्रभु की रुचि भक्त की रुचि बन जाती है। अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं का परित्याग होने लगता है। स्वामी की सेवा का सातत्य स्वामी और सेवक के बीच की दूरी को दूर करनेवाला है। इससे भक्त भगवान् के साथ आत्मीयता का अनुभव करने लगता है और उसके परिवार का एक अंग बन जाता है। प्रभु मेरे पिता हैं, मैं उनका पुत्र हूँ, यह भावना दास्यभावना से अधिक आकर्षणकारी तथा प्रभु के निकट लानेवाली है। उपासना शब्द का अर्थ ही भक्त को भगवान् के निकट ले जाना है।[2]

वात्सल्यभाव का क्षेत्र व्यापक है। यह मानवक्षेत्र का अतिक्रांत करके पशु एवं पक्षियों के क्षेत्र में भी व्याप्त है। पितृभावना से भी बढ़कर मातृभावना है। पुत्र पिता की ओर आकर्षित होता है, पर साथ ही डरता भी है। मातृभावना में वह डर दूर हो जाता है। माता प्रेम की मूर्ति है, ममत्व की प्रतिमा है। पुत्र उसके समीप निःशंक भाव से चला जाता है। यह भावना वात्सल्यभाव को जन्म देती है। रामानुजीय वैष्णव सम्प्रदाय में केवल वात्सल्य और कर्ममिश्रित वात्सल्य को लेकर, जो मार्जारकिशोर तथा कपिकिशोर न्याय द्वारा समझाए जाते हैं, दो दल हो गए थे (टैकले और बडकालै)– एक केवल प्रपत्ति को ही सब कुछ समझते थे, दूसरे प्रपत्ति के साथ कर्म को भी आवश्यक मानते थे।[2]

स्वामी तथा पिता दोनों को हम श्रद्धा की दृष्टि से अधिक देखते हैं। मातृभावना में प्रेम बढ़ जाता है, पर दाम्पत्य भावना में श्रद्धा का स्थान ही प्रेम ले लेता है। प्रेम दूरी नहीं नैकट्य चाहता है और दाम्पत्यभावना में यह उसे प्राप्त हो जाता है। शृंगार, मधुर अथवा उज्जवल रस भक्ति के क्षेत्र में इसी कारण अधिक अपनाया भी गया है। वेदकाल के ऋषियों से लेकर मध्यकालीन भक्त संतों की हृदयभूमि को पवित्र करता हुआ यह अद्यावधि अपनी व्यापकता एवं प्रभविष्णुता को प्रकट कर रहा है।

भक्ति क्षेत्र की चरम साधना सख्यभाव में समवसित होती है। जीव ईश्वर का शाश्वत सखा है। प्रकृति रूपी वृक्ष पर दोनों बैठे हैं। जीव इस वृक्ष के फल चखने लगता है और परिणामतः ईश्वर के सखाभाव से पृथक् हो जाता है। जब साधना, करता हुआ भक्ति के द्वारा वह प्रभु की ओर उन्मुख होता है तो दास्य, वात्सल्य, दाम्पत्य आदि सीढ़ियों को पार करके पुनः सखाभाव को प्राप्त कर लेता है।ख्ड, इस भाव में न दास का दूरत्व है, न पुत्र का संकोच है और न पत्नी का अधीन भाव है। ईश्वर का सखा जीव स्वाधीन है, मर्यादाओं से ऊपर है और उसका वरेण्य बंधु है। आचार्य वल्लभ ने प्रवाह, मर्यादा, शुद्ध अथवा पुष्ट नाम के जो चार भेद पुष्टिमार्गीय भक्तों के किए हैं, उनमें पुष्टि का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं : कृष्णधीनातु मर्यादा स्वाधीन पुष्टिरुच्यते। सख्य भाव की यह स्वाधीनता उसे भक्ति क्षेत्र में ऊर्ध्व स्थान पर स्थित कर देती है।[3]

मीराबाई (1498–1546) वैष्णव–भक्ति–आन्दोलन की महानतम कवयित्री हैं।

भक्ति का तात्विक विवेचन वैष्णव आचार्यो द्वारा विशेष रूप से हुआ है। वैष्णव संप्रदाय भक्तिप्रधान संप्रदाय रहा है। श्रीमद्भागवत और श्रीमद्भगवद्गीता के अतिरिक्त वैष्णव भक्ति पर अनेक श्लोकबद्ध संहिताओं की रचना हुई। सूत्र शैली में उसपर नारद भक्तिसूत्र तथा शांडिल्य भक्तिसूत्र जैसे अनुपम ग्रंथ लिखे गए। ख्4,पराधीनता के समय में भी महात्मा रूप गोस्वामी ने भक्तिरसायन जैसे अमूल्य ग्रंथों का प्रणयन किया। भक्ति–तत्व–तंत्र को हृदयंगम करने के लिए इन ग्रंथों का अध्ययन अनिवार्यतः अपेक्षित है। आचार्य वल्लभ की भागवत पर सुबोधिनी टीका तथा नारायण भट्ट की भक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी गई है :[3]

सवै पुंसां परो धर्मो यतो भक्ति रधोक्षजे ।
अहैतुक्य प्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति।। ११.२.६

भगवान् में हेतुरहित, निष्काम एक निष्ठायुक्त, अनवरत प्रेम का नाम ही भक्ति है। यही पुरुषों का परम धर्म है। इसी से आत्मा प्रसन्न होती है। 'भक्तिरसामृतसिन्धु', के अनुसार भक्ति के दो भेद हैं: गौणी तथा परा। गौणी भक्ति साधनावस्था तथा परा भक्ति सिद्धावस्था की सूचक है। गौणी भक्ति भी दो प्रकार की है : वैधी तथा रागानुगा। प्रथम में शास्त्रानुमोदित विधि निषेध अर्थात् मर्यादा मार्ग तथा द्वितीय में राग या प्रेम की प्रधानता है। आचार्य वल्लभ द्वारा प्रतिपादित विहिता एवं अविहिता नाम की द्विविधा भक्ति भी इसी प्रकार की है और मोक्ष की साधिका है। शांडिल्य ने सूत्रसंख्या १० में इन्हीं को इतरा तथा मुख्या नाम दिए हैं।[4]

श्रीमद्भागवत् में नवधा भक्ति का वर्णन है :

श्रवणं कीर्तन विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।। ७,५,२३

नारद भक्तिसूत्र संख्या ८२ में भक्ति के जो ग्यारह भेद हैं, उनमें गुण माहात्म्य के अन्दर नवधा भक्ति के श्रवण और कीर्तन, पूजा के अंदर अर्चन, पादसेवन तथा वंदन और स्मरण–दास्य–सख्य–आत्मनिवेदन में इन्हीं नामोंवाली भक्ति अंतभुर्क्त हो जाती है। रूपासक्ति, कांतासक्ति तथा वात्सल्यासक्ति भागवत के नवधा भक्तिवर्णन में स्थान नहीं पातीं।4 निगुर्ण या अव्यक्त तथा सगुण नाम से भी भक्ति के दो भेद किए जाते हैं। गीता, भागवत तथा सूरसागर ने निर्गुण भक्ति को अगम्य तथा क्लेशकर कहा है, परन्तु वैष्णव भक्ति का प्रथम युग जो निवृत्तिप्रधान तथा ज्ञान–ध्यान–परायणता का युग है, निर्गुण भक्ति से ही संबद्ध है। चित्रशिखंडी नाम के सात ऋषि इसी रूप में प्रभुध्यान में मग्न रहते थे। राजा वसु उपरिचर के साथ इस भक्ति का दूसरा युग प्रारंभ हुआ जिसमें यज्ञानुष्ठान की प्रवृत्तिमूलकता तथा तपश्चर्या की निवृत्तिमूलकता दृष्टिगोचर होती है। तीसरा युग कृष्ण के साथ प्रारंभ होता है जिसमें अवतारवाद की प्रतिष्ठा हुई तथा द्रव्यमय यज्ञों के स्थान पर ज्ञानमय एवं भावमय यज्ञों का प्रचार हुआ।

चतुर्थ युग में प्रतिमापूजन, देवमंदिर निर्माण, शृंगारसज्जा तथा षोडशोपचार (कलश–शंख–घंटी–दीप–पुष्प आदि) पद्धति की प्रधानता है। इसमें बहिर्मुखी प्रवृत्ति है। पंचम युग में भगवान् के नाम, रूप, गुण, लीला और धाम के अतीव आकर्षक दृश्य दिखाई देते हैं। वेद का यह पुराण में परिणमन है। इसमें निराकार साकार बना, अनंत सांत तथा सूक्ष्म स्थूल बना। प्रभु स्थावर एवं जंगम दोनों की आत्मा है। फिर जंगम चेतना ही क्यों ? स्थावर द्वारा ही उसकी अभिव्यक्ति और भक्ति क्यों न की जाय ?[5]

वैष्णव आचार्य, कवि एवं साधक स्थूल तक ही सीमित नहीं, वे स्थूल द्वारा सूक्ष्म तक पहुँचे हैं। उनकी रचनाएँ नाम द्वारा नामी का बोध कराती हैं। उन्होंने भगवान् के जिन नामों रूपों लीलाओं तथा धामों का वर्णन किया है, वे न केवल स्थूल मांसपिंडों से ही संबंधित हैं, अपितु उसी के समान आधिदैविक जगत् तथा आध्यात्मिक क्षेत्र से भी संबंधित हैं। राधा और कृष्ण, सीता और राम, पार्वती और परमेश्वर, माया और ब्रह्म, प्रकृति और पुरुष, शक्ति और शक्तिमान्, विद्युत् और मेघ, किरण और सूर्य, ज्योत्स्ना और चंद्र आदि सभी परस्पर एक दूसरे में अनुस्यूत हैं। विरहानुभूति को लेकर भक्तिक्षेत्र में वैष्णव भक्तों ने, चाहे वे दक्षिण के हों या उत्तर के, जिस मार्मिक पीड़ा को अभिव्यक्त किया है, वह साधक के हृदय पर सीधे चोट करती है और बहुत देर उसे वहीं निमग्न रखती है। लोक से कुछ समय के लिए आलोक में पहुँचा देनेवाली वैष्णव भक्तों की यह देन कितनी श्लाघनीय है, कितनी मूल्यवान् है। और इससे भी अधिक मूल्यवान् है उनकी स्वर्गप्राप्ति की मान्यता। मुक्ति नहीं, क्योंकि वह मुक्ति का ही उत्कृष्ट रूप है, भक्ति ही अपेक्षणीय है। स्वर्ग परित्याज है, उपेक्षणीय है। इसके स्थान पर प्रभुप्रेम ही स्वीकरणीय है। वैष्णव संप्रदाय की इस देन की अमिट छाप भारतीय हृदय पर पड़ी है। उसने भक्ति को ही आत्मा का आहार स्वीकार किया है।[5]

भक्ति तर्क पर नहीं, श्रद्धा एवं विश्वास पर अवलंबित है। पुरुष ज्ञान से भी अधिक श्रद्धामय है। मनुष्य जैसा विचार करता है, वैसा बन जाता है, इससे भी अधिक सत्य इस कथन में है कि मनुष्य की जैसी श्रद्धा होती है उसी के अनुकूल और अनुपात में उसका निर्माण होता है। प्रेरक भाव है, विचार नहीं। जो भक्ति भूमि से हटाकर द्यावा में प्रवेश करा दे, मिट्टी से ज्योति बना दे, उसकी उपलब्धि हम सबके लिए निस्संदेह महीयसी है। घी के ज्ञान और कर्म दोनों अर्थ हैं। हृदय श्रद्धा या भाव का प्रतीक है। भाव का प्रभाव, वैसे भी, सर्वप्रथम हृदय के स्पंदनों में ही लक्षित होता है।[6]

भक्ति का महत्व

भक्ति स्वयं फलरूपा है। फल वह कहलाता है जिसे जानकर हम छोड़ना न चाहें– अवगतं तत आत्मैवेष्यते। आम का फल मीठा है, स्वादिष्ट है, यह जान लें तो उसे खाना चाहेंगे। जिसको सुखरूप जानेंगे उसे अपने पास अपने भीतर रखना चाहेंगे। भक्ति फलरूपा है। घर में कुछ वस्तुएं प्रयोजन के कारण रखी जाती हैं।7 यह पता लग जाए कि घर में सर्प है तो लाठी लाएं। पता लगा कि सर्प घर से निकल गया तो लाठी फेंक दी। इसी प्रकार आचरण की शुद्धि के लिए धर्म तथा विक्षेप को निवृत्ति के लिए योग आता है। ज्ञान, अज्ञान की निवृत्ति के लिए आता है। ये धर्म, योग, ज्ञान ऐसे हैं जैसे रोगी को निवृत्ति के लिए औषधि होती है। रोग नहीं रहा तो औषधि फेंक दी किंतु भक्ति तो तृप्तिरूपा है।

प्रीति शब्द का अर्थ ही है तृप्ति। प्रीत तर्पण से ही प्रीति शब्द बना है। हम जीवनभर तृप्ति को धारण करना चाहते हैं। प्रीतिसेवा है भक्ति। सेवा में प्रीति हो तब वह भक्ति होती है। बिना प्रीति की सेवा भक्ति नहीं है। इसी प्रकार निष्क्रिय प्रीति भी भक्ति नहीं है। सेवा कर कुछ और चाहना भक्ति नहीं होती।[7]

जैसे ईमानदार नौकर सेवा तो ईमानदारी से करता है किंतु वेतन चाहता है। वेतन से अपने स्त्री–पुरुष का पालन करता है। उसकी प्रीति तो स्त्री और पुत्र में है। इसी प्रकार जो भजन कर कुछ और चाहते हैं वे प्रीति तो चाही वस्तु से करते हैं। वे भक्त नहीं हैं।

दर्शन देकर भगवान सदा तो साथ रहेंगे नहीं। दर्शन एक काल में होता है, एक काल में नहीं होता। उसमें संयोग वियोग का क्रम बना रहता है किंतु प्रेम सदा रहता है। वह संयोग में भी रहता है ओर वियोग में भी। श्रीचौतन्य संप्रदाय में मानते हैं कि प्रेम रस का ही समुद्र है। उसमें श्रीराधा तथा श्रीकृष्ण के जो आकार हैं ये तरंगे हैं। ये स्थिररूप नहीं हैं। ये तरंगायित रूप हैं।[8]

एक तरंग श्रीकृष्ण रूप में और एक श्रीराधारूप में उठती है। दोनों मिलती हैं और फिर लीन होती हैं। कभी श्रीकृष्ण राधा हो जाते हैं और कभी श्रीराधा कृष्ण हो जाती हैं। श्रीराधा वल्लभ संप्रदाय में कहते हैं हिततत्व है। उसकी गोद में श्रीराधा कृष्ण युगल क्रीड़ा करते हैं। प्रत्येक क्षण वे परस्पर परिवर्तित होते रहते हैं। उनका मिलन नित्य नूतन है।[8]

'लाल प्रिया से भई न चिन्हारी' अनंत अनंत युग से लीलाविहार कर रहे हैं किंतु दोनों में परिचय ही नहीं हुआ। जब दोनों एक–दूसरे के भाव में विस्मृत हो जाते हैं तब दोनों का जो सुखात्मक बोध है वही हिततत्व है। यह भक्ति फलरूपा है, आनंदरूपा है, स्वयं प्रकाश है। बहुत थोड़े लोग जानते हैं कि भक्ति साधन ही नहीं है, वही फल भी है। भक्ति साधन है, यह तो जब जानते हैं किंतु गोस्वामी तुलसीदास जी ने स्थान–पर भक्ति को फल बतलाया है–[8]

'सब कर मांगहिं एक फल, राम चरन रति होउ।
अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहौं निरबान।
जनम जनम रति राम पद, यह बरदान न आन।

भक्ति का सच्चा स्वरूप

आजकल लोगों में भक्ति का स्वरूप यही प्रसिद्ध है कि संसार के सभी कार्यों से विरक्त होकर साधु बन किसी तीर्थ में निवास करना और रात दिन हाथ में माला लेकर भगवान का नाम जपना, मन्दिरों में दर्शन करते फिरना आज अमुक मन्दिर में श्रृंगार है तो कल अमुक मन्दिर में झाँकी होगी। इन्हीं उत्सवों में अपने को दिन रात फँसाये रखना, जगत का कोई काम नहीं करना। इसी समाज को आजकल भक्त समाज कहते हैं। सिर्फ भगवान की भक्ति का ही पेशा करने वाला एक बड़ा भारी गिरोह है जिसे वैरागी साधु समाज कहते हैं। आज तो उत्तम भक्त वही कहा जाता है जिसकी चर्चा होती हो कि– 'सेठजी तो बड़े भक्त आदमी हैं। उनको संसारी जीवों से क्या मतलब, वह तो रात दिन भगवान के पूजन, दर्शन में ही लगे रहते हैं। उनके समान भक्त आज दुनिया में कोई नहीं है" इत्यादि।[9]

ऐसी परिस्थिति में यह आवश्यक प्रतीत होता है कि भक्ति शास्त्रों में भक्ति का क्या स्वरूप बताया गया है, इस पर कुछ प्रकाश डाला जाए। भागवत के तृतीय स्कन्ध में भक्ति योग के स्वरूप का दिग्दर्शन स्वयं कपिल जी ने अपनी माता देवहूति से किया है।[9]

अह सर्वेषु भूतेषु भूतात्माऽवस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मा मृत्यः कुरुतेऽर्चा विडम्बनम्।।
यो माँ सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
हित्वार्चां भजते मौढ़याद्भस्यन्येव जुहोति सः।।
अहमुच्चावचौर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयाऽन्घे।
नैवतुष्येऽर्चितोऽर्चायाँ भृतग्राम म मानिनः।।
अथ माँ सर्व भूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्हयेद्–दान मानाभ्याँ मैव्याऽभिन्नेन चक्षुषा।।

(भागवत 3ध्29ध्21ध्27)

अर्थ– मैं तो सभी प्राणियों में जीव रूप से बैठा ही रहता हूँ, परन्तु अल्पज्ञ मानव वहाँ मेरा अपमान करके झूठे मन्दिरों में पूजा करता फिरता है। जो सब प्राणियों में रहने वाले ईश्वर को छोड़कर मूर्खतावश मन्दिरों में श्रृंगार, झाँकी देखता फिरता है, वह तो भस्म में हवन के समान व्यर्थ काम करता है। जो प्राणियों के उपकार को छोड़कर उलटे उनका तिरस्कार करता है और बड़ी सामग्रियों से मन्दिरों में मेरी पूजा करता फिरता है, मैं उस पर कभी भी प्रसन्न नहीं होता। इस लिये सब प्राणियों में रहने वाले मुझको दान तथा सत्कार द्वारा पूजन करे। अर्थात् जीवों का उपकार करे, उनको सन्तुष्ट करे।[9]

महाभारत में भी एक जगह लिखा है–

अपहाय निजं कर्म कृष्ण कृष्णेति वादिनः।
ते हरे र्द्वेषिणः पापाः कर्मार्थ जन्म यद्धरेः।।

अर्थ– जो अपने कर्तव्य कर्मों को छोड़ कर केवल कृष्ण कृष्ण जपा करते हैं वे तो भगवान के द्वेषी हैं, क्योंकि भगवान् का भी तो अवतार कर्म करने के लिये होता है।

वस्तुतः भगवान की सच्ची भक्ति तो अपने कर्तव्यों का पूरे तौर से पालन करना ही है। इसी बात को सभी शास्त्रों में स्पष्टतः कहा है। योग सूत्र भाष्य में व्यासजी ये 'तपः स्व ध्यायेश्च प्रणिधानानि क्रिया योग' (21) इस सूत्र का भाष्य करते हुए ईश्वर प्रणिधान शब्द का अर्थ यों किया है, 'तस्मिन् परम गुरौ परमेश्वरे स्वकृत कर्मणाँ फल समर्पणाम् ईश्वर प्रणिधानम।' अर्थात् उस परमपिता परमात्मा को अपने कर्तव्य कर्मों द्वारा सन्तुष्ट करना ही तो ईश्वर प्रणिधान ईश्वर भक्ति है। इसी बात को गीता ऐसे उत्पनिषत्सार ग्रन्थ में स्वयं भगवान् कहते हैं–[10]

यतः प्रवृर्त्तिर्तभूतानाँ येन सर्व मिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्दर्च्य सिद्धिं विन्दन्ति मानवः।।

जिस ईश्वर से सभी प्राणियों की पैदा यश है और जिसने इस सारे पसारे को फैलाया है, अपने कर्तव्य कर्मों से ही उसकी पूजा करके मनुष्य सिद्धि पा सकता है। सभी शास्त्रों का निचोड़ रूप यों क हिये तो अपने कर्तव्य कर्मों को पूरी तौर से सम्पादन करते हुए सभी प्राणियों का यथा शक्ति उपचार करते रहना, यही भक्ति का सच्चा स्वरूप मेरी दृष्टि में प्रतीत होता है।10

भागवत के एकादश स्कन्ध में श्री कृष्णजी उद्धव से कहते हैं कि–

सर्व भूतेषु या पश्येद्भगवद्भाव मात्मनः।
भृतानि भगवत्यात्मन्यष भागवतोत्तमः। 2। [45]

गृहीत्वायीन्द्रियै र्थान योन द्वेष्टिन ह्रष्यति ।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन् सवै भागवतोत्तमः।। 2। [48]
वेदोक्त मेव कुर्वाणौ निःसंगोऽर्पितमाश्वरे।
नैष्कर्मा लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः।। 3। [46]
स्वकर्मस्था वजन् यज्ञैरनीशीः काम उद्धवः ।
न याति र्स्वग नरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत् । 20। [24]

अर्थ– जो सभी प्राणियों में मुझे ही देखता है और सब प्राणियों को मेरे में ही देखता है वही मेरा (भगवान का) सर्व श्रेष्ठ मित्र है। (45) जो इन्द्रियों द्वारा सब कर्तव्य कर्मों को करता हुआ भी किसी से राग द्वेष नहीं रखता, संसार को भगवान का ही पसारा समझता है वही श्रेष्ठ भगवद् भक्त कहता है। (46) जो निःशंक होकर कर्तव्य रूप से अपने जिम्मे प्राप्त वेदोक्त कर्मों को ईश्वरार्पण बुद्धि से किया करता है वह अवश्य मुक्त होता है, कर्मों का जो फल बताया है वह तो सिर्फ कर्मों में प्रवृत्त कराने के लिये बढ़ावा दिया है। (46) जो अपने कर्तव्य कर्मों पर दृढ़ रहता हुआ निःशंक होकर परोपकार, देशाभ्युदय साधन कर्मों (यज्ञों) को किया करता है, वह स्वर्ग नरक न जाकर मुक्त हो जाता है। कुछ भी न करे तो भी (24) इत्यादि भक्ति के प्रतिपादक ग्रन्थ भागवत में ही भक्ति का क्या स्वरूप बतलाया है, किन्तु आज कल हमारे देश में भक्ति का कैसा विकृत स्वरूप हो गया है। यही कारण है कि देश आज दिनोंदिन पतित होता चला जा रहा है। [10]

भगवान के लिए भक्ति/ प्रेम कैसे विकसित होता है

- जप, कीर्तन, सात्विक भोजन, पूजा (पूजा) आदि के माध्यम से भक्ति का विकास करें। ईश्वर–दर्शन की लालसा। उसे अपने पूरे दिल से प्यार करो। उसे नित्य स्मरण करो।
- संतों, धर्मियों और बुद्धिमानों की संगति रखो। गीता, भागवत, रामायण, संतों के जीवन जैसी भक्ति पुस्तकों का अध्ययन करें।
- भगवान का नाम दिव्य अमृत है। नाम ही आपका एकमात्र आश्रय, सहारा और खजाना है। नाम और नामी (भगवान) एक हैं। हमेशा भक्ति के साथ उनके नाम का जप करें। कीर्तन करें। यह कलियुग की प्रमुख साधना है।
- अपने हृदय की गहराई से प्रभु से प्रार्थना करोः मैं तुम्हारा हूं। सब तेरा है। थय हो जायेगा। मैं तेरे हाथों का एक यंत्र हूं। आप सब कुछ करते हैं। आप केवल हैं। मुझे विश्वास और भक्ति दो।
- अपने साथ ईश्वर की उपस्थिति को महसूस करें। हर चेहरे में भगवान देखें। सारे संसार को प्रभु के रूप में देखें।
- सदाचार (सही आचरण) का अभ्यास करें। सद्गुणों को विकसित करो और दोषों को मिटाओ। अच्छा बनो। सभी के प्रति दयालु रहें। विनम्र होना। पवित्र बनो। सच बोलें। क्रोध पर नियंत्रण रखें। बड़ा दिल हो। करुणा विकसित करें।[11]
- भगवान के रूप को देखने के लिए आंख को सिखाओ। प्रभु की लीलाओं और महिमा को सुनने के लिए कानों को सिखाओ। हाथ को संतों और गरीबों की सेवा करना सिखाएं।
- प्रभु की शरण में जाओ। कुल मिलाकर आत्म–समर्पण करें। उसके लिए जियो। अपने कार्यों को उसे अर्पित करें। उनकी कृपा आप पर उतरेगी।[11]
- ईश्वर पर पूरा भरोसा रखें। ईश्वर को पाने के लिए श्रद्धा आवश्यक है। विश्वास आपको प्रभु के आंतरिक कक्षों में ले जा सकता है।
- लगातार कुछ प्रेरक छंद (भगवान की महिमा की स्तुति) या कुछ मंत्र, या भगवान के नाम दोहराएं। यह आपके विचार की दिव्य पृष्ठभूमि होगी।[11]

निष्कर्ष

भक्ति हृदय को कोमल बनाती है और ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, अहंकार, अभिमान और अहंकार को दूर करती है। यह आनंद, दिव्य परमानंद, आनंद, शांति और ज्ञान का संचार करता है। सभी चिंताएँ, चिंताएँ और चिंताएँ, भय, मानसिक पीड़ाएँ और क्लेश पूरी तरह से गायब हो जाते हैं। भक्त जन्म और मृत्यु के संसार के चक्र से मुक्त हो जाता है। वह चिरस्थायी शांति, आनंद और ज्ञान के अमर धाम को प्राप्त करता है। ईश्वर के प्रति प्रेम अमृत के समान मीठा है जिसे चखने से व्यक्ति अमर हो जाता है। जो जीवित है, चलता है और ईश्वर में है, वह अमर हो जाता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. Flood, Gavin D. (2003). The Blackwell Companion to Hinduism. Wiley-Blackwell. p. 185. ISBN 978-0-631-21535-6.
2. Cutler, Norman (1987). Songs of Experience. Indiana University Press. p. 1. ISBN 978-0-253-35334-4.
3. Allport, Gordon W.; Swami Akhilananda (1999). "Its meaning for the West". Hindu Psychology. Routledge. p. 180.
4. Georg Feuerstein; Ken Wilber (2002). The Yoga Tradition. Motilal Banarsidass. p. 55. ISBN 978-81-208-1923-8.
5. भगवान आदटराव, (2011). हिंदी भक्ति काव्य की प्रासंगिकता. Indian Streams Research Journal] Vol-I] Issue- III] DOI % 10-9780/22307850]-
6. राजेन्द्र सिंह बिष्ट, शैलेश मटियानी की कथा साहित्य में सामाजिक चेतना, प्रबंधन समाजशास्त्र और मानविकी के अंतर्राष्ट्रीय अनुसंधान पत्रिका, वॉल्यूम – ७, अंक– ८, पृष्ठ (ओं): २८६ – २८६ (२०१६)
7. शिप्रा बेग, अलका श्रीवास्तव, अलका सरावगी के उपन्यासों में सामाजिक चेतना, सामाजिक विज्ञान में समीक्षा और अनुसंधान के अंतर्राष्ट्रीय जर्नल, वॉल्यूम – ४, अंक– ४, (२०१६)
8. नीरज कुमार नामदेव, सामाजिक चेतना की परिवर्तनशीलता, मानविकी और सामाजिक विज्ञान के अनुसंधान जर्नल वॉल्यूम – ६ अंक– २, (२०१५)
9. डॉ.आकांक्षा मिश्रा, गोंडा (उत्तर –प्रदेश) हिंदी साहित्य में भक्तिकाल एव सामाजिक चिंतन, ज्ञान और विज्ञान, समीक्षा, साहित्य (२०१७)
10. उपासना, प्रगतिवादी काव्य की सामाजिक चेतना, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ एडवांस्ड एजुकेशनल रिसर्च, वॉल्यूम – ३ अंक– १, (२०१८)
11. सुशीला, 21 वीं सदी के संदर्भ में भक्ति काव्य की प्रासंगिकता, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ रिसर्च, वॉल्यूम – ३ अंक– २०, (२०१६)
12. डॉ. रामकुमार , राम काव्य भक्ति परम्परा और साहित्य का अध्ययन, एप्लाइड रिसर्च के इंटरनेशनल जर्नल, वॉल्यूम – १ अंक– १३, (२०१५)

❖◆❖